भारतीय परीक्षा प्रणाली का समाजशास्त्र

❑ ऋतु बाला

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में वस्तुनिष्ठ एवं अवैयक्तिक तरीके से कराई जाने वाली परीक्षाओं पर बहुत बल दिया जाता है। मूल्यांकन के अधिकांश प्रावधान परीक्षाओं की रूपरेखा तथा उनके संचालन पर कोई सवाल उठाये बिना ही किये जाते हैं। सही परिणाम प्राप्त करने के लिए, परीक्षा की गोपनीयता बनाये रखने के लिए काफी तकलीफें उठायी जाती हैं, ताकि परीक्षा पूर्व ही प्रश्नों की जानकारी परीक्षार्थी को न हो जाए। औपनिवेशिक–वस्तुनिष्ठतावादी संस्कृति का ऐसा भयावह रुप, मूल्यांकन व्यवस्था के अतिरिक्त और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। यह बना ही इस प्रकार से है कि लोगों को विलोपित, पराजित और निकाल बाहर किया जाए जिससे अभिजात्य व्यवसायों के लिए बहुत थोडे से खास लोग बच जायें। स्पर्धात्मक चुनाव के माध्यम से कुछ खास प्रकार के रोजगार के लिए, लोगों की तलाश के लिए जब उक्त प्रकार की मूल्यांकन प्रणाली सही माध्यम बन जाती है तो यहां शिक्षा की आधारभूत अवधारणा का उल्लंघन होता है।

भारतीय शिक्षा में परीक्षा एक सामाजिक चयन की प्रतियोगिता आधारित अवधारणा है जो औपनिवेशिक विरासत के रूप में आई है। इसका स्वरूप आज भी कमोवेश वही है जो औपनिवेशिक काल में था। परीक्षा की यह अवधारणा भारत में 19 वीं सदी के अंतिम दौर में लागू की गई । आजादी के बाद भी भारत में यह उसी रूप में बरकरार रही जिस रूप में औपनिवेशिक काल में थी। ऐसी स्थिति में एक स्वाभाविक सवाल उठता है कि सार्वजनिक परीक्षायें आजादी के बाद के भारत की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं (सामाजिक न्याय के इर्द-गिर्द भारतीय समाज की पुर्नरचना) को पूरा करने में कैसे समर्थ हो सकती हैं। चूंकि परीक्षा ही आज शिक्षा हो चुकी है अत: इस अर्थ में संपूर्ण भारतीय शिक्षा के लिए भी यह प्रश्न प्रासंगिक हो उठता है।

आज इस बात पर व्यापक सहमति है कि परीक्षा, जिसे शिक्षण प्रक्रिया के एक अंग मात्र के रूप में होना चाहिए था, वहीं आज पूरी शिक्षा प्रक्रिया परीक्षा के ही इर्द-गिर्द घूमती है। भारतीय विश्वविद्यालय आयोग (1902, लार्ड कर्जन के समय) ने देखा कि अध्यापन भारतीय शिक्षा में परीक्षा के आधीन है न कि परीक्षा अध्यापन के। 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' (1952) ने यह पाया कि परीक्षा आज पाठ्यक्रम का अनुसरण करने की जगह उसे निर्देशित कर रही है और शिक्षा के उद्देश्य को बाधित कर रही है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) के दस्तावेज (1973) ने 'परीक्षा सुधार कार्य योजना' में यह व्यक्त किया है कि परीक्षा ने शिक्षा प्रक्रिया पर वर्चस्व स्थापित कर लिया है। 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' (1948) ने संभवत: इसी वजह से यह कहा कि 'हम यह आश्वस्त हो चुके हैं कि विश्वविद्यालय शिक्षा में यदि एक सुधार की सिफारिश हमें करनी हो तो यह परीक्षा के संबंध में होगी' । ऐसा कहा जा सकता है कि आज शिक्षा में परीक्षा ने अपना केन्द्रीय स्थान बना लिया है और यह शिक्षा के सम्पूर्ण चरित्र को पूरी तरह से प्रभावित कर रही है।

परीक्षा को लेकर आज के संपूर्ण विचार विमर्श को मुख्यत: दो खेमों में बांटकर देखा जा सकता है। पहला खेमा वह है जो यह मानकर चलता है कि परीक्षा समाज को गतिशीलता प्रदान करती है। 'वस्तुनिष्ठता, गोपनीयता, प्रतिभाशाही,' परीक्षा लेने का एक समय एवं एक जैसी भौतिक परिस्थितियां, 'परीक्षा के घण्टों में सभी विद्यार्थियों के साथ एक समान व्यवहार', 'परीक्षा लेने वाले, प्रश्नपत्र बनाने वाले, मूल्यांकन करने वाले तथा इसके गणकों का विद्यार्थियों से अनजानापन' इत्यादि विशेषताओं के आधार पर परीक्षा समर्थकों के इस खेमे का मानना है कि यह हर पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों के साथ एक समान व्यवहार करती है। इस खेमे की प्रमुख विचारधारा को 'उदार सुधारवादी' के नाम से जाना जाता है । भारत के संदर्भ में शिक्षा संबंधी समितियों एवं आयोगों की रपटें इसके अंतर्गत आती हैं। इस विचारधारा का मानना है कि आकलन की विभिन्न संस्थाओं ने स्वजन पक्षपात, अक्षमता, अथवा अपर्याप्तता के खिलाफ संघर्ष किया है और सामाजिक गतिशीलता के अवसर उस दूरी तक खोले हैं, जैसा पहले कभी नहीं किया गया अथवा जाना नहीं गया । इस विचारधारा के अनुसार परीक्षा की अवधारणा समतावादी समाज की रचना में योगदान देने वाली है। इसमें छात्र अपने अन्दर निहित योग्यता और प्रयास के जरिए अपने लिए समाज की हाईयार्की (श्रेणीबद्धता) में उपुयक्त जगह पा लेते हैं (ब्रॉडफूट, 1979:पृष्ठ 89) । भारत की शिक्षा संबंधी समितियों एवं आयोगों की रपटें परीक्षा के सामाजिक चरित्र एवं भूमिका पर कोई विमर्श नहीं करतीं। वे ज्यादा से ज्यादा इसके वर्तमान स्वरूप की कुछ खामियों तक कुछ छूट गये पहलुओं पर चर्चा करती हैं।

दूसरे खेमे के विद्वानों का मानना है कि परीक्षा का चरित्र विषमतापोषी है। परीक्षा को वे 'सामाजिक नियंत्रण' 'सामाजिक पुनर्जनन', 'वर्चस्वशाली सामाजिक समूह से संबंधित ज्ञान का वैधानिकीकरण करने वाला', 'चयनतंत्र', 'छटनी तंत्र', 'सामाजिक छलनी', 'यथास्थितिवाद का पोषक', 'सामाजिक, आर्थिक,

राजनैतिक' इत्यादि क्षेत्रों में अभिजात्यों के हक में रोक एवं सन्तुलन की मशीन', 'सामाजिक एवं व्यावसायिक ऊँच-नीच (हाईयार्की) का साधन' 'चक्करद्वार' मानते हैं (ब्रॉडफूट 1977, इस्कस्टीयन और नोंह 1989, कुमार 1985, 1998, 2000)। इस विचारधारा के विद्वानों का मानना है कि इन परीक्षाओं ने सामाजिक गतिशीलता को सीमित करने में अपनी भूमिका निभाई है। साथ-ही-साथ पारम्परिक रूप से सुविधा प्राप्त लोगों के पक्ष में पूर्वाग्रह से ग्रस्त शिक्षा व्यवस्था को वैधता प्रदान की है। बोर्द्यो और पैसरॉन का मानना है कि अपनी 'सांस्कृतिक पूँजी' के आधार पर अभिजात्य पृष्ठभूमि से आने वाले उससे भिन्न पृष्ठभूमि से आए लोगों की तुलना में अच्छा प्रदर्शन करते हैं (ब्रॉडफूट, 1979:पृष्ठ 40)। उनका संकेत उस ज्ञान की तरफ है जो अभिजात्य पृष्ठभूमि से जुड़ा है, जिसे शिक्षा और परीक्षा वैधता प्रदान करती है। यंग का मानना है कि मूल्यांकन सामाजिक शक्ति संतुलन संबंधों का एक निश्चित उत्पादन है जिसे ग्राम्शी की शब्दावली में 'हैजेमॉनी' कहा जा सकता है (वही/पृष्ठ 100) ।

दुर्खीम के अनुसार समाज में चल रहे सामाजिक संतुलन को आश्वस्त करने के लिए इस प्रकार के 'बाँटनी तंत्र' (आकलन) में दो प्रकार के सामाजिक प्रकार्य करने की क्षमता होनी चाहिए। पहला वह रास्ता निकालना जिसके जरिए वह श्रम विभाजन की विभिन्न दरारों में लोगों को बाँट सके और उन्हें यह विश्वास दिला सके कि वे इस जारी की गयी भूमिका में अपने कौशल और योग्यताओं का उचिततम उपयोग कर सकेंगे। असंतुष्टों की फौज को रोकने और सामाजिक नियंत्रण कायम रखने के लिए उसे दूसरा काम यह करना होगा कि कम वांछित भूमिकाओं में बांटे गये लोगों को अपने इस भूमिका वितरण के साधन की निष्पक्षता के प्रति आशवस्त करे (वही:पृष्ठ 91) । दुर्खीम से प्रेरित 'प्रकार्यवादी' आकलन को वर्चस्वशाली वर्ग द्वारा वर्चस्व बनाए रखने की इच्छा को कायम रखने वाले, उसे पुनर्जनित करने वाले और समाज में नियंत्रण कायम करने वाले औजार के रूप में में देखते हैं (वही:पृष्ठ 85) । 'संरचनात्मक प्रकार्यवादी' और 'कन्फ्लीक्ट सिद्धान्तकार' दोनों शिक्षा में आकलन के उपरोक्त इस दोहरे कार्य को स्वीकार करते हैं। कन्फ्लीक्ट थ्योरी शैक्षिक आकलन के इस दोहरे कार्य को विभिन्न सामाजिक समूहों में असमान शक्ति संतुलन के उत्पाद के रूप में परिभाषित करते हुए इसे अन्यायपूर्ण, स्वेच्छाचारी और शोषणकारी मानती है। वह मानती है कि आकलन अपने रूप तथा विषयवस्तु दोनों में ही वर्चस्वशाली समूह की सामाजिक और सांस्कृतिक परंपरा के पक्ष में पूर्वाग्रह पूर्ण है और वह वस्तुनिष्ठता के नाम पर इस पूर्वाग्रह का वैधानिकीकरण करता है (वही:पृष्ठ 91-101)।

भारतीय शिक्षा में परीक्षा का केन्द्रीय महत्व तथा शिक्षा के सामने समतावादी समाज की पुनर्रचना के दायित्व को ध्यान में रखते हुए यह उत्कण्ठा स्वाभाविक ही बनती है कि क्षेत्र, लिंग, समुदाय इत्यादि मानदण्डों के आधार पर गहरे रूप से विषमता के शिकार समाज के साथ परीक्षा का बर्ताव कैसा रहा है? इसका सामाजिक चरित्र क्या है ? अर्थात् यह समाज के किन वर्गों के हितों का पोषण करती है ? किनके हितों को नजरअंदाज करती है ? या सबके साथ एक समान व्यवहार करती है?

इतनी व्यापक और स्थायी प्रभाव वाली परीक्षा के सामाजिक चरित्र का अध्ययन स्वतंत्रता की अर्धशती से भी ऊपर गुजर जाने के बाद भी उपेक्षित ही रहा है। तमाम शैक्षिक विमर्श चाहे वह सरकारी स्तर पर हों अथवा गैर-सरकारी स्तर पर सामान्यत: परीक्षा के लगभग तकनीकी विमर्श तक ही सिमट कर रह गये हैं। शिक्षा समितियां एवं आयोग परीक्षा में सुधार के बावत यह तो कहते हैं कि इसमें और क्या-क्या शामिल होना चाहिये, यह किसके हाथों में होनी चाहिए, इसकी नियमितता क्या हो, इयादि; पर इस बात पर लगभग खामोशी सी बरत लेते हैं कि अभी तक की परीक्षा का सामाजिक चरित्र और भूमिका क्या रही है? अर्थात् यह किसके हितों के समर्थन और किसके हितों के विरोध में खड़ी होती रही है। यदि शिक्षा को वास्तविक रूप से भारतीय समाज की विषमता को ध्यान में रखकर समतावादी समाज की पुनर्रचना में अपनी भूमिका निभानी है तो यह प्रासंगिक होगा कि औपनिवेशिक काल से लेकर अभी तक चली आ रही परीक्षा के सामाजिक चरित्र की पड़ताल की जाये ताकि इसकी सटीक समझ के आधार पर परीक्षा में अपेक्षित परिवर्तन किया जा सके।

भारतीय शिक्षा में परीक्षा में प्राप्त अंकों को ही सफलता का एकमात्र मानदण्ड मानने की परंपरा को देखते हुए 'सभी को शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के समान अवसर' देने तथा 'जन्म के संयोग में उत्पन्न पूर्वाग्रहों एवं कुण्ठाओं' (राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986, 1992) को दूर करने का संदर्भ परीक्षा में ही देखा जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986 और 1992) की शिक्षा से यह अपेक्षा और दूसरी तरफ वर्तमान परीक्षा प्रणाली पर राममूर्ति समिति (1990) की एक टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। इस दस्तावेज का कहना है कि समानता और सामाजिक न्याय की दृष्टि से परीक्षा प्रणाली में भी सुधार करने का औचित्य है क्योंकि वह सम्पन्न लोगों के पक्ष में ज्यादा होती है। ''कन्वेयरबेल्ट'' की भूमिका निभाते हुए यह अधिकांश लोगों को इससे बाहर फेंक देती है और इस तरह यह शिक्षा को भेदभावपूर्ण एवं अभिजात्य बना देती है।

राममूर्ति समिति (1990) की इस टिप्पणी के समक्ष पिछड़े ग्रामीण इलाकों की शैक्षणिक हालत को रखकर उनके परीक्षा परिणामों को देखना इसे और ठोस रूप से समझने में सहायक होगा।

एन.सी.ई.आर.टी. का अध्ययन (1986) बतलाता है कि सर्वे के समय (1994)ग्रामीण क्षेत्रों की 23 प्रतिशत प्राथमिक शालाएं 'एकल शिक्षकीय' थीं। नमबिसान (2000) भारत सरकार के अधीन हुए अध्ययन के आधार पर बतलाती हैं कि आदिवासी बहुल क्षेत्रों में दूसरे क्षेत्र के बनिस्पत 'एकल शिक्षकीय' स्कूलों की उपलब्धता की दर बहुत ऊँची है। अपने अध्ययन में वे बतलाती हैं कि ग्रामीण क्षेत्र में शैक्षिक संस्थाओं में जाने वाले (पांच से चौदह वर्ष आयु समूह के बच्चे) आदिवासी लड़के और लड़कियां क्रमश: 44.5 प्रतिशत, 26.2 प्रतिशत, दलित लड़के और लड़कियाँ क्रमश: 49.8 प्रतिशत , 31.1 प्रतिशत और अन्य लड़के और लड़कियाँ क्रमश: 63.4 प्रतिशत और 45.8 प्रतिशत हैं। इस हालत में ग्रामीण क्षेत्रों और खासकर आदिवासी बहुल क्षेत्रों में 'एकल शिक्षक' स्कूलों की ऊँची दर इसका सटीक अनुमान लगाने का आधार देती है कि बोर्ड की परीक्षाओं में असफल छात्रों की जो ऊँची दर हैं उनमें असफल होने वाले छात्रों की भौगोलिक पहचान क्या है?

मालवीय (1997) ने मध्यप्रदेश, बैतूल जिला, शाहपुर तहसील में पड़ने वाले एक आदिवासी गांव 'पावरझंडा' के 52 सालों के परीक्षा परिणामों के अध्ययन के बाद पाया कि यहां कक्षा पांच, आठ और बारह की परीक्षा उत्तीर्ण करने वालों का प्रतिशत क्रमश: 17 प्रतिशत, 32 प्रतिशत तथा 1.1 प्रतिशत है। किसी नगर, महानगर के ऐसे परीक्षा परिणाम की शायद ही कल्पना की जा सकती हो। राष्ट्र की जो शिक्षा नीति सभी को सफलता के पर्याप्त अवसर देने की प्रतिबद्धता दोहराती है उसी की परीक्षा व्यवस्था में 1989 से 1996 के बीच वाले आठ वर्षों में 10 वीं बोर्ड में कुल पास विद्यार्थियों का परिणाम 42.18 प्रतिशत तथा 12 वीं बोर्ड में कुल पास विद्यार्थियों का परिणाम 54.72 के ग्राफ को स्वतंत्रता की अर्धशती के गुजर जाने के बावजूद लांघ नहीं पाता। अनुसूचित जाति एवं जनजाति का परीक्षा परिणाम तो और भी बुरा है। 10 वीं बोर्ड में यह क्रमश: 33.88 प्रतिशत व 30.91 प्रतिशत है। 12 वीं बोर्ड में यह क्रमश: 39.1 प्रतिशत तथा 40.91 है। (गणित-भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग, योजना, मॉनिटरिंग एवं सांख्यिकी प्रभाग, 1997-1997)

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह पता चलता है कि परीक्षा परिणामों में व्यापक स्तर पर विषमता व्याप्त है। और इस विषमता का संबंध लैंगिक भौगोलिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर की विषमता से है। परन्तु आश्चर्य है कि स्वतंत्रता की अर्धशती से भी ऊपर गुजर जाने के बावजूद विभिन्न परीक्षा मण्डल इतना तक नहीं बतलाते कि ग्रामीण स्कूलों का पास प्रतिशत, शहरी इलाकों के मुकाबले कितना पीछे रहा? अगर हम वास्तव में चाहते हैं कि 'जन्म के संयोग' से परीक्षा परिणामों में उपजने वाली विषमता को दूर किया जाए तो सबसे पहले वांछित यह होगा कि परीक्षा परिणामों में छिपी हुए विषमताओं के विभिन्न स्तरों की पहचान की जाये।

स्वतंत्रता पश्चात् से ही शिक्षा संबंधी समितियां तथा आयोग वर्तमान परीक्षा प्रणाली में पाई जाने वाली अनेकानेक खामियों को दूर करने की आवश्यकता पर बल देते आए हैं तथा तत-संबंधी सिफारिशें भी करते आयें हैं । परन्तु परीक्षा प्रणाली कमोबेश जस-की-तस बनी हुई है। इसमें यह देखना प्रासंगिक होगा कि परीक्षा प्रणाली द्वारा वर्ष 1989 से 1996 के बीच इन आठ वर्षों में क्रमश: 10 वीं तथा 12 वीं बोर्ड के परीक्षा परिणामों द्वारा कुल फेल किए 57.82 प्रतिशत तथा 45.28 प्रतिशत (गणित - भा.स., मा.सं.वि.म, शि.वि.यो, मॉ. एवं सं.प्र., 1997-1999) विद्यार्थियों के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक भूगोल (रजा, 1996) की पहचान क्या है ? ताकि यह परखा जाए कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था किस आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक भूगोल वाले बच्चों के लिए सफलता के पर्याप्त अवसर जुटा रही है और किस के लिए वह ऐसा नहीं कर पा रही ? परीक्षा की इस भूमिका पर न केवल शिक्षा समितियों एवं आयोगों की रपटें मौन हैं बल्कि इस संबंध में अन्य मंचों पर भी विमर्श देखने को नहीं मिलता। ◆

संदर्भ

इस्कस्टीयन, मैक्सए. और नोह, हेराल्ड जे. फॉम्स एण्ड फंक्सन्स ऑफ सैकेन्डरी स्कूल - लीविंग एग्जामीनेशन कम्पेरिटीव एजुकेशन रिव्यू (अगस्त1989)

कुमार कृष्ण (1985) रिप्रोडक्शन और चेंज ? एजुकेशन एण्ड एलीट्स इन इण्डिया। इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली वाल्यूम 20 नं. 30, जुलाई 27.

कुमार कृष्ण (1998) ग्रंथशिल्पी; शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व। कृपाल, विनय और गुप्ता, **मीनाक्षी (1999)** इक्रेलीटी थ्रू रिजर्वेशन।

नमबिसान, गीता बी. (1996) इक्वीटी इन अजुकेशन? स्कूलिंग ऑफ दलित चिल्ड्रेन इन इण्डिया, इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, (20-27 अप्रैल)।

नमबिसान, गीता बी. (1999) आइडेन्टीटी, एक्सक्लूजन एण्ड एजुकेशन ऑफ ट्राईबल कॉम्यूनिटीज, दक्षिण एशियाई शिक्षा सम्मेलन में शामिल पर्चा (नवम्बर 14-18)

पटबर्धन, अमृता (जून 2000) ट्राइबल परसेपशन्स ऑफ एजुकेशन : ए केस ऑफ आदिवासी इन एस.एस.पी. रिजन ऑफ द नर्मदा वैली, एम.फिल. शोध कार्य शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

ब्रॉडफूट, पतरीयचीया (1990) एसेसमेन्ट, स्कूलस् एण्ड सोसाइटी, कन्टेम्परी सोसियोलॉजी ऑफ स्कूल, मेशुइयन, यू.एस.ए.।

भारत सरकार, विधि, न्याय कम्पनी कार्य मंत्रालय : विधायी विभाग, राजभाषा खण्ड, भारत का संविधान।

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय (1995) रिपोर्ट ऑफ सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन 1952

भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग 1990 राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की समीक्षा रिपोर्ट (राममूर्ति समिति)

भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग 1992 राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) (1992 में किए गए संशोधनों सहित, नई दिल्ली) :

भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग, योजना, मॉनिटरिंग एवं सांख्यिकी प्रभाग (1997) नई दिल्ली।

बोर्ड ऑफ सैकेण्डरी एण्ड हायर एजुकेशन ऑफ इण्डिया,रिजल्ट्स ऑफ हाई स्कूलस् एण्ड हायर सेकेण्डरी एक्जामिनेशनस् 1989-1990.

मालवीय मुकेश (1990) पावरझंडा, 57 सालों में ..., शैक्षिक संदर्भ सितम्बर-अक्टूबर।

रजा, मुनीश (1996) शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

सिंह अमरीक (अक्टूबर 9, 2000) इक्लीटी थ्रू रिजर्वेशन, द हिन्दू।